६

कल्याण का ज्योतिर्मय पथ

अनादिकाल से मनुष्य के सामने यह प्रश्न रहा है कि कल्याण का मार्ग क्या है? कैसा है? इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न भी किया गया है। भारतीय-दर्शन-साहित्य में इसके उत्तर एवं समाधान भरे पड़े हैं। अनेक चिन्तकों ने, विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसका जो समाधान करने का प्रयत्न किया, उससे हजारों शास्त्रों का निर्माण हो गया। मानव मन के इस विकट प्रश्न पर आज भी विचार उठ रहे हैं, शंकाएँ और तर्कणाएँ खड़ी हो रही हैं कि आखिर कल्याण के लिए वह किस मार्ग का अवलम्बन ले।

जहाँ प्रश्न है, समाधान भी वहीं है :

मुख्य बात यह है कि समाधान वहीं खोजना चाहिए, जहाँ समस्या खड़ी हुई हो। जहाँ पर समस्या का जन्म हुआ है, वहीं पर समाधान का भी प्रस्फुटन होगा। जहाँ से विकल्प उठकर मन को अशान्त कर रहे हैं, उद्वेलित कर रहे हैं, वहीं पर उनका निराकरण करनेवाली शक्ति का भी उद्भव होगा। यदि प्रश्न अन्दर का है और उत्तर बाहर खोजें तो, आज क्या, अनन्त-अनन्त काल तक भी समाधान नहीं मिल पाएगा! शरीर में एक जगह दर्द पैदा हो गया, वैद्यराज को दिखाया, तो उन्होंने बता दिया कि वायु का दर्द है, सर्दी का दर्द है, या अन्य किसी कारण से हुआ है। अमुक तेल की मालिश करो, आराम हो जाएगा। तेल भी बड़ा कीमती है, आप ले भी आए और मालिश भी करने बैठे। किन्तु दर्द पीठ में है, आपने सोचा पीठ पर हाथ नहीं पहुँच रहा है, चलो पेट पर ही मालिश करलो, आखिर शरीर तो एक ही है न! तो शुरू कर दी आपने मालिश! दो-चार मिनट भी हुए नहीं कि पीठ में तो दर्द छूटा नहीं, पेट में और उठना शुरू हो गया। आप घबरा गए—अरे! यह क्या? कैसा बेवकूफ वैद्य है? कैसी दवा बताई उसने? उलटा दर्द और पैदा कर दिया इसने! तो सोचिए, यह मूर्खता वैद्य की है या आपकी? वैद्य ने तो निदान ठीक ही किया था, किन्तु आपने उसका प्रयोग गलत कर लिया, पीठ के दर्द के लिए पीठ में ही तो मालिश करनी पड़ेगी न! यह तो नहीं होता कि दर्द कहीं, और दवा कहीं। रोग कहीं, और उपचार कहीं। गलती कहीं और उसका अनुसन्धान कहीं और हो।

मैंने एक कहानी भी इस तरह की पढ़ी थी। एक बुढ़िया थी—होगी सत्तर-पचहत्तर वर्ष की, किन्तु फिर भी निठल्ली नहीं बैठी रहती थी वह! यह नहीं कि बुढ़ापा आ गया, अब तो जाने के दिन हैं, अब क्या काम करें? वास्तव में जब आदमी निकम्मा रहता है, तो उसको बुढ़ापा और बीमारी सभी काटने दौड़ते हैं। यदि मन किसी प्रिय विषय में या काम में जुड़ा रहता है, तो उसे यह अनुभव करने का अवसर ही नहीं आने पाता कि मैं बूढ़ा हूँ, क्या करूँ? हाँ, तो बुढ़िया काम कर रही थी सिलाई का। कुछ सी रही थी, कि सूई हाथ से गिर गई। अब वह मिल नहीं रही थी, सन्ध्या का समय था, ज्यादा प्रकाश भी नहीं था, सोचा बाहर सड़क पर नगर महापालिका की बत्ती जल रही, है, प्रकाश काफी है, चलो वहीं खोज ली जाए! बाहर सड़क पर आई और इधर-उधर ढूंढ़ने लगी वह! सूई नन्हीं छोटी-सी थी, तो क्या? कितने काम की चीज थी वह। दो टुकड़ों को जोड़ने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाली थी न ! आखिर भेद को मिटा कर अभेद करानेवाली होती है न सूई ! कोई परिचित सज्जन उधर से निकला, बुढ़िया को सड़क पर कुछ खोजते हुए देखा, तो पूछा—'दादी ! क्या खोज रही हैं ?' 'बेटा सूई गिर गई है, उसे खोज रही हूँ ।' —बुढ़िया ने अपनी समस्या बताई। आगन्तुक ने सोचा, बेचारी बुढ़िया परेशान है। मैं ही क्यों न खोज दूं। उसने इधर-उधर बहुत खोजा, पर सूई न मिली। आखिर पूछा—'दादी ! कहाँ खोई थी सूई ? किधर गिरी थी ?'

बुढ़िया ने कहा—"बेटा ! गिरी तो अन्दर थी, लेकिन अन्दर प्रकाश नहीं था, इसलिए सोचा, चलो प्रकाश में खोज लूं, प्रकाश में कोई भी चीज दिखाई पड़ जाती है।" आगन्तुक ने यह सुना, तो बड़े जोर से हँस पड़ा, कहा—"दादी ! सूई घर में खोई है, तो सड़क पर ढूंढ़ने से क्या फायदा ? जहाँ खोई है, वहीं तो मिलेगी न !"

इस उदाहरण से भी यही ज्ञात होता है कि जहाँ हम भूल कर रहे हैं, वहीं पर समाधान भी ढूंढ़ना चाहिए। यह नहीं कि भूल कहीं, खोज कहीं ! कहीं हम भी बुढ़िया की तरह मूर्ख तो नहीं बन रहे हैं ?

मनुष्य अन्दर से अशान्त है, व्याकुलता अनुभव कर रहा है, अपने को खोया-खोया-सा अनुभव कर रहा है। अब यदि वह अशान्ति का समाधान शान्ति के द्वारा करना चाहता है, अपना जो 'निज' है, उसे पाना चाहता है, तो उसे अपने अन्तर्मन में ही खोजना चाहिए, या बाहर में ? घर में यदि अन्धेरा है, तो वहाँ दीपक जलाकर प्रकाश करना चाहिए। दूसरी जगह भटकने से तो वह भटकता ही रह जाएगा ! तो हमारे इस प्रश्न का, जो कि हमने प्रारम्भ में ही उठाया है—कि कल्याण और उन्नति का मार्ग क्या है ? उसका समाधान भी अपने अन्तर् में ही ढूंढ़ना चाहिए ! थोड़ी-सी गहराई में उतर कर यदि हम देखेंगे, तो इसका उत्तर आसानी से मिल जाएगा। तुम्हारे कल्याण का मार्ग तुम्हारे अन्तर् में ही है। तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारी उन्नति हो सकती है। गीता के शब्दों में—**'उद्धरेदात्मनात्मानं'** अर्थात् अपने से अपना उत्थान करो। और भगवान् महावीर की वाणी में भी—**'अप्पाणमेवमप्पाणं'**—आत्मा से आत्मा का कल्याण करना चाहिए—यही सूत्र ध्वनित होता है। तात्पर्य यह है कि कल्याण और उन्नति के लिए हमारी अन्तरंग साधना, सत्य, शील एवं सदाचार ही कारण बन सकते हैं। जब यह साधना का मार्ग और उसका मर्म, हम समझ लेंगे, तो फिर हमें बाहर भटकना नहीं पड़ेगा। असत्य का समाधान सत्य के द्वारा मिलता है। जैसा कि बुद्ध ने कहा है—**'सच्चेणालीकवादिनं'**—सत्य से असत्य को पराजित करो। हिंसा और वैर का प्रवाह हमारे मन में उमड़ रहा हो, तो उसे रोकने के लिए अहिंसा और निर्वैर (क्षमा) की चट्टानें खड़ी करनी पड़ेंगी। लोभ और वासनाओं का दावानल यदि भड़क रहा है, तो उसकी शान्ति के लिए सन्तोष रूपी जलवृष्टि की जरूरत है। यदि आपके अन्तर् में अभिमान जग रहा है, तो विनय धारण कीजिए, और यदि हीनता जन्म ले रही है, तो 'आत्म गौरव' का भाव भरिए। कषायों की जो अग्नि है, वह अकषाय के जल के बिना बुझेगी कैसे ? आगम में कहा है—

"कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुय-सील-तवो जलं"

श्री केशीकुमार श्रमण, गौतम स्वामी से पूछ रहे हैं कि—"एक भयंकर अग्नि संसार में धधक रही है, उसकी प्रचण्ड ज्वालाओं से संसार दग्ध हो रहा है, उस अग्नि को आप कैसे बुझाते हैं ? उसे बुझाने का उपाय क्या है ?" गौतम उत्तर में कहते हैं, "मैं उस अग्नि को जल से बुझाता हूँ।" केशीकुमार फिर पूछते हैं—"वह कौन-सा जल है ?" तो गौतम कहते हैं, "कषाय भयंकर अग्नि है, यह मनुष्य के अन्तर् में प्रज्वलित हो रही है, उसको शान्त करने के लिए सम्यक्-श्रुत, शील और तप-संयम का जल अपेक्षित है।" हाँ, उस जल का निर्झर् भी हमारे अन्तर् में ही बह रहा है, उसे कहीं बाहर खोजने की जरूरत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। स्पष्ट है कि साधना का जो भी मार्ग है, वह हमारे अन्दर से ही जागृत होगा। उस पर किसी जाति, रंग या सम्प्रदाय की कोई मोहर नहीं लगी है। किसी मत और किसी पन्थ का सिक्का उस पर नहीं है।

साधना का आधार : आत्मा

साधना आत्मा की वस्तु है, आत्मा को स्पर्श करके ही वह चलती है। वह एक मछली की तरह है, जो हमेशा आत्मा के सरोवर में तैरती रहती है। उसे यदि वहाँ से हटाकर भौतिक जगत् में रखने का प्रयत्न किया जाता है, तो वह छटपटा कर खत्म हो जाती है। बाह्य सतह पर वह जीवित नहीं रह सकती।

आप जानते हैं, जैन-धर्म का क्या अर्थ है? जैन-धर्म का अर्थ है—जिन का धर्म! जिन कौन हैं? क्या 'जिन' नाम का कोई खास महापुरुष, राजा, चक्रवर्ती या देव हुआ है? नहीं! 'जिन' किसी व्यक्ति का नाम नहीं, वह तो आत्मा की एक निर्विकार शुद्ध स्थिति है। अतः जिन एक नहीं, असंख्य नहीं, अनन्त हो गए हैं। जिस आत्मा की साधना अपने लक्ष्य पर पहुँची, वीतराग भाव का पूर्ण विकास हुआ कि वह जिन हो गया। जिनत्व का कहीं बाहर से आयात नहीं करना पड़ता है, वह तो आत्मा में ही छिपा रहता है। जैसे ही कषाय, मोह, मात्सर्य का पर्दा हटा कि जिनत्व जागृत हो जाता है।

जैन साहित्य में एक कहानी आती है—एक राजा था, कला का बड़ा रसिक था वह। उसके राज्य में कलाकारों का बहुत सम्मान था। नई-नई चित्र-शैलियाँ उसके समय में विकास पा रही थीं। राजा का विचार हुआ कि एक 'चित्रशाला' बनवाई जाए, पर वह ऐसी अद्भुत हो कि संसार भर में उसके जोड़ की कोई दूसरी चित्रशाला न मिले। उसमें कल्पना का कमनीय कौशल हो, रंगों का सतरंगी जादू हो। बस, कला की उत्कृष्टतम कृति हो वह चित्रशाला। राजा ने दो सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों को बुलाया और अपनी इच्छा प्रकट की। साथ में एक शर्त भी जोड़ दी कि दोनों के चित्र सर्वोत्कृष्ट होने चाहिए, किन्तु चित्र और शैली दोनों की एक समान हो। रंगों का मिश्रण भी एक समान हो और एक-दूसरे के चित्र कोई देखने न पाए! आप कहेंगे, बिल्कुल असम्भव! लेकिन, असम्भव को संभव बनाने वाला ही तो सच्चा कलाकार होता है। चित्रकारों को छह महीने का समय दिया गया, और दोनों ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। बुद्धि, हृदय और शक्ति का सामञ्जस्य करके जुट गए दोनों। कला में प्राण तभी आ पाता है, जब उसमें बुद्धि के नए-नए उन्मेष खुले हों, भावनाओं का स्पंदन हो और हाथ में कौशल एवं सफाई का निखार हो। कला में जब तक बुद्धि एवं हृदय का संतुलन नहीं होता, तब तक वह कला नहीं, सिर्फ कर्म होता है, उसका कर्ता कलाकार नहीं, कर्मकार कहलाता है। जब उसमें बुद्धि का योग होता है, तो वह कर्म शिल्प कहलाता है और वह व्यक्ति शिल्पकार होता है। जब कर्म में हृदय भी जुड़ जाता है, तब वह कर्म कला बन जाता है, और उस व्यक्ति को 'कलाकार' कहा जाता है। तो बात यह हुई कि उन कलाकारों ने अपना हृदय भी उस कला में उँड़ेल दिया, बुद्धि का तेज भी उसमें भर दिया, तूलिका का चमत्कार तो था ही!

छह महीने तक दोनों अपने-अपने ढंग से, बिना एक-दूसरे से मिले, बीच में पर्दा डाले, ठीक आमने-सामने की दीवारों पर अपने कार्य में जुटे रहे। समय पूर्ण हुआ, तो दोनों ने ही राजा से चित्रशाला में पधार कर कला का निरीक्षण करने की प्रार्थना की। राजा अपने महामात्य एवं अधिकारियों के साथ चित्रशाला में गया। पहले चित्रकार की कला देखी, तो राजा का हृदय बाग-बाग हो गया। राजा ने चित्रकार की बहुत प्रशंसा की। नयी शैली में, नये रंगों में, भावों की ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति, राजा ने पहले कभी नहीं देखी थी। अब दूसरे कलाकार ने निवेदन किया—"महाराज! जरा इधर भी कृपा-दृष्टि की जाए।"

राजा जब उसके कक्ष में पहुँचा, तो दंग रह गया। पूछा—"चित्रकार! यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्या ? एक भी चित्र नहीं, भित्ति पर रंग की कहीं एक भी तो रेखा नहीं ? कहाँ हैं, तुम्हारे चित्र ? छह महीने तक क्या किया तुमने ? खाट तोड़ी या डंड पेले ?"

चित्रकार ने निवेदन किया—"महाराज ! इसी में हैं मेरे सारे चित्र, यहीं पर अंकित हैं महाराज !"

राजा ने कहा—"क्या मजाक है ? यहाँ तो सिर्फ दीवार है, साफ, चिकनी चमकती हुई ! उस पर रंग का एक बिन्दु भी तो नहीं ! बताओ, कहाँ हैं, तुम्हारे चित्र ?"

चित्रकार ने बीच का पर्दा उठा दिया। पर्दा उठाते ही उधर के सब चित्र इधर प्रतिबिम्बित हो उठे। राजा और मन्त्री लोग बड़े आश्चर्य से देखते रह गए। यह कैसा चमत्कार है ? सभी को बड़ा विस्मय हुआ। चित्रकार ने समस्या को सुलझाया—आपका आदेश था कि दोनों के चित्र, शैली और रंग एक समान ही होने चाहिए, और एक-दूसरे का चित्र कोई देखे भी नहीं, तो इसीलिए उसने चित्र बनाए और मैंने उन्हें यहाँ ज्यों-का-त्यों प्रतिबिम्बित करने के लिए अपनी दीवार को तैयार किया। छह महीने तक अथक परिश्रम करके इसे साफ किया, रगड़ा, चमकाया और बिल्कुल शीशे की तरह उज्ज्वल और चमकदार बना दिया। इसमें वह शक्ति पैदा कर दी कि किसी भी वस्तु को यह अपने में प्रतिबिम्बित कर सकती है। परन्तु जबतक पर्दा बीच में था, तबतक तो कुछ भी नहीं मालूम होता था। पर्दा हट गया, तो सब-कुछ इसमें झलक उठा, वे ही सब चित्र इसमें प्रतिबिम्बित हो गए।

राजमार्ग :

कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा पर मोह एवं कषाय का एक सघन पर्दा पड़ा हुआ है, जब तक वह पर्दा नहीं हटता, 'जिनत्व' जागृत नहीं होता, चेतना में त्रैकालिक सत्य झलक नहीं सकता। दीवार की सफाई और चमकाने की तरह आत्मा की सफाई भी जरूरी है। जब तक दीवार साफ नहीं, तब तक चित्र कैसे प्रतिबिम्बित हो सकेंगे। वह स्वच्छ दीवार तैयार करना—साधना के द्वारा आत्मा की सफाई, स्वच्छता एवं निर्मलता पैदा करना है। साधना के द्वारा यदि आत्मा स्वच्छ एवं निर्मल हो गई, तो वहाँ जिनत्व का शुद्ध स्थिति में अनन्त सत्य के प्रतिबिम्बित होने में कोई भी शंका नहीं है। आत्मा की विकासभूमि तैयार करने के लिए साधना आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि साधना का मार्ग राजमार्ग है। राजमार्ग पर ब्राह्मण को भी चलने का अधिकार है, हरिजन एवं चमार को भी। वहाँ स्त्री भी चल सकती है और पुरुष भी। गोरा आदमी भी चल सकता है और काला भी। किसी के लिए वहाँ किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं; कोई रुकावट नहीं। इस मार्ग पर चलने वाले से किसी को यह पूछने का अधिकार नहीं कि तुम्हारी जाति क्या है ? तुम्हारा देश क्या है ? पंथ क्या है ? तुम्हारी परम्परा क्या है ? तुम धनी हो या निर्धन ? काले हो या गोरे ? हिन्दू हो या मुसलमान ?

एक प्राचीन जैन मनीषी ने कहा है—

> **"अन्नोन्नदेसजाया, अन्नोन्नाहारवड्ढिय-सरीरा।**
> **जे जिणधम्मपवन्ना, सव्वे ते बंधवा भणिया।।"**

अलग-अलग देशों में, अलग-अलग प्रदेशों और अलग-अलग कुलों-जातियों में जन्म लेने वाले, खान, पान और रहन-सहन आदि के विभिन्न प्रकारों में पलने वाले भी यदि 'जिन-धर्म' अर्थात् वीतराग-भाव को स्वीकार करते हैं, तो वे परस्पर भाई-भाई हैं। उनकी साधना की भूमिका में कोई विभेद-रेखा नहीं खींची जा सकती ! धर्म-साधना के क्षेत्र में उनके भ्रातृत्व का, समत्व का दर्जा खण्डित नहीं हो सकता।

यह एक दृष्टिकोण है, जो साधना के क्षेत्र में चलने वालों के लिए अखण्ड प्रेम, स्नेह और सद्भाव का संदेश देता है। धर्म कोई जाति नहीं है, वंश-परम्परा नहीं है। शरीर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के रक्त सम्बन्ध से चली आने वाली कोई नस्ल नहीं है। वह तो एक आध्यात्मिक नस्ल है, जिसके आधार पर धर्म का सम्बन्ध चलता है, साधना की परम्परा चलती है।

साधना : एक पावन तीर्थ :

भारत के संतों की स्पष्ट घोषणा है कि धर्म के द्वार पर आपकी जाति, आपका रंग-रूप नहीं पूछा जाता, वहाँ आत्म-बोध पूछा जाता है, आध्यात्मिक साधना की तैयारी कितनी है, वह देखी जाती है। संत कबीर ने ठीक ही कहा है—

> **"जाति न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।**
> **मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ।।"**

साधक की जाति और वेश मत पूछो। पूछना है तो यह पूछो कि उसमें ज्ञान का प्रकाश कितना है? उसकी साधना में तेज कितना है? तलवार का अपना मूल्य है। यदि वह सोने की म्यान में है, तब भी उसका वही मूल्य है और लोहे या लकड़ी की म्यान में है, तब भी वही बात है। वीर के हाथ में जब तलवार आती है, तो वह उसकी म्यान नहीं देखता, उसकी धार देखता है। मेरे सामने एक पुस्तक आई, उसकी ऊपरी साज-सज्जा बड़ी चित्ताकर्षक थी। छपाई-सफाई भी सुन्दर थी। किन्तु, जब पन्ने पलट कर पढ़ा तो चिन्तन-सामग्री कुछ भी नहीं मिली। नहीं से मतलब यह कि उसकी रचनाओं में कोई प्रतिभा या चमत्कार और मौलिकता नाम की कोई चीज न थी! अब यदि उसकी साज-सज्जा पर हम मुग्ध हो जाएँ, तो फिर विवेक की कसौटी क्या रही? जो विद्वान् है, वह उसका मूल्यांकन छपाई-सफाई से नहीं, अपितु विचार-सामग्री से करता है। तो बात यह है कि साधक का मूल्यांकन भी उसके कुल या शरीर से नहीं होता, बल्कि शील और सदाचार से होता है, साधना की तेजस्विता से होता है।

जैन-साहित्य में एक 'तीर्थ' शब्द आता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन्हें चतुर्विध तीर्थ माना गया है। मैं पूछता हूँ कि यह तीर्थ है क्या? क्या साधु या साध्वी का शरीर तीर्थ है? श्रावक-श्राविका तीर्थ का क्या अर्थ हुआ? उनका धन, घर या शरीर? यह भी कोई तीर्थ है? यह तो तीर्थ नहीं, बल्कि तीर्थ तो है उनकी आध्यात्मिक साधना! जिससे कि संसार रूपी सागर को पार किया जा सकता है। वह साधना, जो व्यक्ति के अन्तर् में उत्पन्न होती है, जीवन में विकसित होती है और मोक्ष के रूप में पर्य-वसित होती है—तीर्थ उसे ही कहा जा सकता है। साधु की साधना भी तीर्थ है, साध्वी की साधना भी तीर्थ है, और श्रावक-श्राविका की साधना भी तीर्थ है! यह साधना जिस किसी व्यक्ति के हृदय में हिलोरें ले रही है, वही तीर्थ है। शास्त्रों में भगवान् के प्ररूपित सिद्धान्तों को भी तीर्थ कहा गया है। और आगे यह भी कहा गया है कि वह शाश्वत तीर्थ है, अनादि, अनन्त है। इसका तात्पर्य भी आपको समझ लेना चाहिए कि जो भगवान् की वाणी है, वह तो शब्दरूप है, जो लिखित आगम है, वह अक्षर रूप है। तो क्या यह शब्द और अक्षर रूप वाणी ही तीर्थ है? यह तो शाश्वत है नहीं! जब भी कोई तीर्थंकर होते हैं, अहिंसा आदि सिद्धान्त की भावार्थ के रूप में प्ररूपणा करते हैं, और गणधर उसे शब्द-बद्ध करते हैं, सूत्र रूप में गूंथते हैं, तो फिर यह शाश्वत कैसे? फिर भगवान् का सिद्धान्त रूप तीर्थ क्या वस्तु है? सिद्धान्त रूप तीर्थ का अभिप्राय तो यह है कि जो अनादि-अनन्त शाश्वत सत्य का ज्ञान है, इस संसार रूपी सागर को पार करने का मार्ग जिस अमर-ज्ञान की ज्योति से दिखाई देता है, वह ज्ञान तीर्थ है। काम, क्रोध आदि कषाय की विजय का जो साधना-मार्ग है, वह तीर्थ है। और, वह मार्ग शाश्वत है, अनादि अनन्त है। जितने भी तीर्थंकर, महापुरुष संसार में आज तक हो चुके हैं, अभी जो हैं और भविष्य में जो भी होंगे—वे सब यही मार्ग बताएँगे! काम, क्रोध को नाश करने का ही उपदेश वे करेंगे, मोह और माया पर विजय पाने का ही मार्ग वे बताएँगे। यह त्रिकाल सत्य है, शाश्वत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। इस कथन का निष्कर्ष यह है कि हमारी जो साधना है, हमारा जो ज्ञान है, वही तीर्थ है। और, वह तीर्थ कोई व्यक्ति नहीं होता, बल्कि आत्मा का निर्मल चैतन्य होता है। किसी भी प्रकार की भेद की कल्पना को उसमें प्रश्रय नहीं दिया जाता। जाति, सम्प्रदाय, लिंग और रंग आदि की भाषा, धर्म की भाषा नहीं हो सकती। न वह साधना की भाषा हो सकती है, और न साधक की ही भाषा हो सकती है।

साधक : एक अपराजेय योद्धा :

साधना का क्षेत्र सबके लिए खुला है, यह बात जितनी सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि वह सिर्फ वीर के लिए है। साधना का मार्ग कंटकाकीर्ण और विकट मार्ग है। आचारांग सूत्र में उसे महावीथि-महापथ कहा है—**"पणया वीरा महावीहिं"**। उस पथ पर वही चल सकता है, जिसके अन्तस्तल में अपार धैर्य उमड़ता हो, साहस और सहिष्णुता का ज्वार उठ रहा हो! जो विषयों और आकांक्षाओं से लड़कर विजय प्राप्त कर सकता हो, वही वीर योद्धा इस क्षेत्र का अधिकारी हो सकता है। यह नहीं कि वेष ले लिया, आराम से मांगकर खा लिया, निश्चित होकर सो गए और सुख-चैन से जिन्दगी गुजार दी! जब तक कष्ट नहीं आए, जीवन में तूफान नहीं आए, संघर्षों के भूचाल नहीं उठे, तब तक जमे रहे और जब तूफानों का सामना करना पड़ा, तो बस भाग खड़े हुए। पाँव उखड़ गए! वह वीर नहीं, जो तलवारों की चमक देखकर पसीना-पसीना हो जाए! भालों और वाणों की बौछार देखकर कलेजा धक्-धक् कर उठे। बल्कि वीर वही है, जो प्राणों पर खेले, वीरता से जीए और मरे भी तो वीरता से मरे!

मुझे काश्मीर के राजा ललितादित्य की एक बात याद आ रही है। जब देश पर आक्रमण हुआ, तो वे बहुत कम उम्र के बालक थे। पिता का देहान्त हो जाने से पड़ौसी शत्रु राजा ने अनुकूल अवसर देखा और चढ़ाई कर दी। इधर प्रधान मन्त्री ने भी युद्ध की तैयारियाँ शुरू कर दीं। राजकुमार युद्ध में जाने को तैयार हुआ, तो प्रधान मन्त्री ने उसे समझाया—"आप तो यहीं पर रहिए, अभी छोटे हैं! हम लोग युद्ध में जा रहे हैं।" सेनापति ने भी यही कहा। राजमाता और अन्य हितैषियों ने भी राजकुमार को यही समझाया कि "तुम अभी बालक हो, अतः राजमहल में ही रहो! हम सब तुम्हारे ही तो हैं!" ललितादित्य ने कहा—"आप सब मेरे हैं, तो मैं भी तो आपका ही हूँ। प्रजा जब राजा की है, तो राजा भी प्रजा का है। प्रजा किस आधार पर है? उसका जनक कौन है? राजा ही न! और राजा किस पर टिका है? राजा को जन्म कौन देता है? प्रजा! अतः प्रजा रणक्षेत्र में जूझती रहे और राजा राजमहल में एक चूहे की तरह छिपा-दुबका बैठा रहे, यह कौन-से क्षात्रधर्म की बात है? यह क्षात्रधर्म पर कलंक नहीं, तो और क्या है! मैं युद्धक्षेत्र में जाऊँगा। अवश्य जाऊँगा!"

राजमाता ने उसकी पीठ थपथपाई। कहा—"बेटा अपने पिता के गौरव को उज्ज्वल करना, और अपने देश की यश-पताका को ऊँची करना!" इस पर ललितादित्य ने जो उत्तर दिया, वह एक महान् वीर का उत्तर था। उसने कहा—"मेरे सामने तो सिर्फ एक बात है और वह मैं कर सकता हूँ, चाहे मैं जिन्दा रहूँ या रणक्षेत्र में खेत जाऊँ, मुझे इसकी परवाह नहीं! जय और पराजय पर भी मेरा कोई अधिकार नहीं। मेरे वश की जो बात है, वह यह है कि शत्रु के शस्त्रों के घाव मेरी पीठ पर नहीं लगेंगे। मेरी मृत्यु और जीवन से भी बढ़कर जो बात है, वह यही है कि शत्रु के शस्त्रों के वार मेरी छाती पर ही पड़ेंगे बस! पीठ पर कदापि नहीं पड़ सकते!" मतलब यह हुआ कि—जीना और मरना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण जो है, वह है—वीरतापूर्वक जीना और वीरता-पूर्वक मरना।

साधक के लिए भी यही बात है। वह जीवन में साधना के जिस महापथ पर चलता है, वह पथ बड़ा विकट है। विकारों के तूफान उस पथ में आएँगे, तो उसे हिमालय की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह अचल-अकम्प बनकर सहना होगा—"मेरुव्व वाएण अकंपमाणो।" प्रलय काल के थपेड़ों में भी मेरु की तरह अकम्प, अडोल, अविचल रहना होगा! और, जब कषायों का दावानल उठेगा, साधक को उसे वैराग्य का पर्जन्य बनकर शान्त करना होगा! कष्टों, अपमानों का हलाहल भी उसके सामने आएगा और तब महादेव बन कर उसे पीना होगा। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने एक जगह कहा है—

"मनुज दुग्ध से, दनुज रक्त से, देव सुधा से जीते हैं।
किन्तु हलाहल भवसागर का, शिवशंकर ही पीते हैं॥"

तो, इस भवसागर का हलाहल पान करके ही उसे मृत्युञ्जय बनना होगा। तभी वह अपने कल्याण मार्ग की अन्तिम मंजिल को पा सकेगा, जहाँ पहुँचने के बाद आत्मा अमर शान्ति, सत्-चित्-आनन्द और अनन्त ज्योतिरूप बन जाती है।

कल्याण का मार्ग, इस प्रकार जीवन और जगत् के आघातों के विष का शान्त-भाव से पान करके, उनको समभाव से आत्मसात् करके ही साधना को प्रशस्त किया जा सकता है। गंगा, धरती के गंदे नालों को अपने रूप में आत्मसात् करके जितनी समतल भूमि पर यशस्वी हो सकी है, उतनी गंगोत्तरी—उद्गम-स्थल में नहीं। दुर्भावों का, विकारों का अन्त करके ही विश्व का कल्याण संभव है। आत्मा को शुभ से शुद्ध की ओर ले जाना, इसी का पर्याय-विशेष है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org